पाठ्य-पुस्तकों की हिन्दी

कृष्ण कुमार

''.... भाषा का मुख्य उद्देश्य ज्ञान और आनंद की प्राप्ति है। हमें विश्वास है कि तुम अपने सभी पाठों को लगन से पढ़ोगे ताकि हिन्दी के अध्ययन से तुम्हें ज्ञान भी मिले और प्रसन्नता भी।'' किताब की शुरुआत में 'विद्यार्थियों से' शीर्षक के तले घोषित उद्देश्यों में यह लिखने के बाद दरअसल हमारी हिन्दी की पुस्तकों के अंदर जो पाया जाता है उसका विस्तृत विश्लेषण किया है कृष्ण कुमार ने इस लेख में।

हमारी हिन्दी की पाठ्य पुस्तकों में एक प्रमुख मान्यता झलकती है कि कविता, कहानी, निबंध सबके चयन से किन्हीं व्यापक उद्देश्यों की पूर्ति ज़रूर होनी चाहिए। पाठ्य-पुस्तकों के इस स्वरूप के ज़रिए एक समरस समाज, बराबरी का समाज बनाने का उद्देश्य भले ही पूरा हो या न हो, लेकिन बच्चों का भाषा सीखने का आनंद ज़रूर छीना जा सकता है।

कृष्ण कुमार ने अपने लेख में जिन पाठ्य पुस्तकों का ज़िक्र किया है आज चाहे वे बदल गई होंगी परन्तु स्थिति जस-की-तस बनी हुई है। नई किताबों में आपको केवल उदाहरण भर बदले हुए मिलेंगे, अन्यथा वे सब आयाम तो मिल ही जाएंगे जिनका ज़िक्र लेखक ने किया है।

पाठ्यक्रम के विविध विषयों की पढ़ाई के माध्यम के रूप में हिन्दी अनेक प्रकार के लोगों की चिन्ता और कुछ की सक्रियता का विषय रही है, पर स्वयं हिन्दी की पढ़ाई शायद ही कभी चर्चा का केन्द्र बनी हो। आज़ादी के काफी पहले, जब हिन्दी एक विषय के रूप में इन्टरमीडिएट की परीक्षा के पाठ्य-क्रम में शामिल हुई, उसकी स्कूली पढ़ाई का तौर-तरीका लगभग तय हो चुका था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल की नियुक्ति के बाद उन्हीं की बनाई तीसरी और चौथी कक्षाओं की रीडर का 1932 में प्रकाशन एक महत्वपूर्ण घटना थी जिसका सम्यक् विश्लेषण मैंने अन्यत्र किया है।*

संक्षेप में, इस घटना का महत्व इस कारण है क्योंकि इसके पहले तक हिन्दी और उर्दू एक ही रीडर से पढ़ाई जाती थी, अर्थात सभी पाठों की एक जैसी विषयवस्तु दो लिपियों में प्रकाशित की जाती थी। तीस के दशक की राजनीति और सामाजिक आबोहवा को देखते हुए उर्दू की पृथक रीडरों की मांग अंग्रेज़ सरकार ने सहज ही स्वीकार कर ली और इसी स्वीकृति के तहत आचार्य शुक्ल ने अपनी रीडर तैयार की।

पाठों की विषयवस्तु, विधाओं के चयन और कक्षाभ्यास व गृहकार्य के लिए दिए जाने वाले प्रश्नों की दृष्टि से यह पुस्तक एक पुरातात्विक वस्तु कही जा सकती है जिसमें हिन्दी की स्कूली पढ़ाई की पहले से चली आ रही परिपाटियों का परिष्कृत रूप एक समकालीन सांस्कृतिक संदर्भ और उसमें व्याप्त विचाराधारा को संजोए हुए है। आज पीछे मुड़कर देखें तो इस रूप का आचार्य शुक्ल के हाथों निर्धारण हिन्दी की शिक्षा के ऐतिहासिक विकास-क्रम में एक निर्णायक बिन्दु प्रतीत होता है। हिन्दी को गैर-मुस्लिम अस्मिता से जोड़ने का अभियान इस रूप की बुनियाद में है, क्योंकि हिन्दी-उर्दू की पृथक रीडरों की मांग इसी अभियान के चलते उठी थी।

इस प्रसंग को यहां एक आरम्भिक संदर्भ में उठाने का उद्देश्य हिन्दी की स्कूली पढ़ाई पर बहस शुरू करने के इस प्रयास को एक ऐतिहासिक संदर्भ देना-भर है। यह संदर्भ विस्तृत जांच-पड़ताल की मांग करता है, विशेषकर संयुक्त प्रांत (यानी आज के उत्तर प्रदेश) के बाहर पड़ने वाले हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी-उर्दू संबंधों के इतिहास की छानबीन करके ही हम संयुक्त प्रांत में घटी घटनाओं को समग्र दृष्टि से समझ और आंक सकते हैं।

ऐसे गहन अध्ययन की ज़रूरत और इंतज़ार के चलते फिलहाल मैं यह दिखाना चाहूंगा कि संयुक्त प्रांत की भाषाई राजनीति की जो छाप स्कूल की हिन्दी पर पड़ी, वह आज तक मिटी नहीं है; और उस छाप के रहते हिन्दी की पढ़ाई धार्मिक अलगाववाद की भावभूमि को सिंचित अवस्था में रखने का काम आज तक करती चली आ रही है। इस बात के प्रमाणस्वरूप मैं यहां एक ही उदाहरण दे रहा हूं। इस उदाहरण की सांकेतिक सघनता

* *यह विश्लेषण मेरी पुस्तक 'गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद' (ग्रंथ शिल्पी) में शामिल है।*

हमें इस समस्या के कई स्तरों पर सोचने के लिए बाध्य करती है, साथ ही हिन्दी शिक्षण की कई अन्य प्रवृत्तियों के बारे में सोचने का मौका देती है। इसलिए मैं इस उदाहरण को संपूर्ण लेख के लिए एक चौखटे की तरह इस्तेमाल कर रहा हूं। यह उदाहरण कक्षा सात की 'किशोर भारती' में शामिल 'विजय पर्व' शीर्षक एकांकी का है। *राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.)* द्वारा प्रकाशित इस पाठ्यपुस्तक का निर्माण इसी संस्था ने किया है।

यह संपूर्ण संदर्भ लेख के अंत में दी जाने वाली संदर्भ सूची की जगह यहां देना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि राष्ट्रीय परिषद् कोई साधारण प्रकाशन-गृह नहीं है। वह केन्द्र शासन द्वारा स्थापित एक आधुनिक संस्था है जो संविधान को मान्य राष्ट्रीय मूल्यों और राज्य के वांछित आचरण को स्कूली शिक्षा के नाना संदर्भों में अनूदित करने की ज़िम्मेदारी नियमानुसार निभाती है। उसके द्वारा रची और प्रकाशित पाठ्य-पुस्तकें केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड से जुड़े और देश भर में फैले स्कूलों में तो चलती ही हैं, ज़्यादातर प्रांतों में प्रान्तीय बोर्डों से जुड़े स्कूलों की पाठ्य-पुस्तकों को भी प्रभावित करती हैं। इस भूमिका और हैसियत को देखते हुए पुस्तक में शामिल 'विजय पर्व' शीर्षक एकांकी पाठ के बारे में हम कह सकते हैं कि अवश्य यह पाठ राष्ट्रीय शिक्षा नीति और संविधान में दर्ज मूल्यदृष्टि से जांचा जाने के बाद ही स्वीकृत हुआ होगा। यह एकांकी हिन्दी के यशस्वी नाटककार डॉ. रामकुमार वर्मा का लिखा हुआ है, इस कारण भी हम इसे एक ऐसी महत्वपूर्ण पाठ्य-कृति मान सकते हैं जो साहित्यिक रचना के रूप में लिखी जाकर स्कूली पाठ्य-सामग्री के रूप में हिन्दी में उपलब्ध सैकड़ों एकांकियों में से उन लोगों द्वारा चुनी गई जो इस चुनाव के लिए अपनी-अपनी विशेषज्ञता के आधार पर नियुक्त थे।

एकांकी विजय पर्व

एकांकी में तैमूरलंग अपने सैनिकों के साथ एक गांव को लूटने के लिए जाता है। एकांकी के अनुसार लूट में कत्ल अनिवार्य रूप से शामिल है। मंच के केन्द्र में बारह वर्ष का बलकरन है जिसकी आज वर्षगांठ है। वह खीर के लिए दूध लेने घर से बाहर जाता है, और लौटकर अपने घर में तैमूर को खड़ा पाकर चौंकता है, लेकिन घबराता नहीं है। तैमूर के साथ संवाद में बलकरन की वीरता प्रकट होती है जिससे प्रभावित होकर तैमूर उसे कोई मुराद मांगने को कहता है और बलकरन अपने गांव की सुरक्षा का वचन मांग लेता है। यह सरल कथानक

हिन्दी की पढ़ाई का विश्लेषण करने की दृष्टि से दो कारणों से एक महत्वपूर्ण रचना है। इनमें से पहला कारण दो अनाम ग्रामीणों की 'हिन्दू ग्रामीणों' के रूप में कराई गई पहचान है। दूसरे कारण की चर्चा मैं लेख के अंत में करूंगा।

तैमूर के आतंक से भागते हुए ग्रामीणों में 'मुसलमान ग्रामीण' नाम का पात्र भी है और उसकी उपस्थिति से धर्मनिरपेक्षता के संवैधानिक मूल्य की रक्षा हो जाती है। संभव है, इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए तैमूर के सताए ग्रामीणों में कुछ की 'हिन्दू' और कुछ की 'मुसलमान' के रूप में शिनाख्त करके दिखाना ज़रूरी माना गया हो। इस वर्गीकृत नामकरण से धर्मनिरपेक्षता की औपचारिक शर्त तो पूरी हो जाती है, पर ठीक उसी कारण धर्मनिरपेक्षता का सामाजिक दर्शन थोड़ा कमज़ोर पड़ता है।

कहानी या नाटक के पात्र की पहचान यदि धर्म जैसे अतिविशाल वृत में ही की जाती है, तो यह विवशता व्यक्तिपरक लोकतांत्रिक व्यवस्था और उसके संविधान की दृष्टि से स्वस्थ नहीं कही जा सकती। धर्मनिरपेक्षता का दर्शन अस्मिता की एकाधिक परिधियों की मंज़ूरी पर टिका है और इनमें सबसे महत्वपूर्ण पहचान तो व्यक्ति की अपनी या निजी पहचान ही है जो नाम और परिस्थितिजन्य व्यवहार से उभरनी चाहिए, किसी जातीय या धार्मिक जुड़ाव से नहीं। ये जुड़ाव महत्वपूर्ण हैं, पर यदि किसी पात्र की समूची पहचान सिर्फ इतनी ही हो कि वह हिन्दू ग्रामीण है तो यह स्थिति एक धर्मनिरपेक्ष समाज में व्यक्ति की सत्ता को कमज़ोर ही बनाएगी।

बच्चों के लिए लिखी गई हिन्दी पाठ्य-सामग्री, जिसमें बहुत-सा कथा साहित्य शामिल है, इसी व्यक्ति से पीड़ित रही है। ऐसी सैकड़ों नहीं, हज़ारों में होंगी जिनकी पहली पंक्ति में लिखा रहता है – 'एक था ब्राह्मण'। ऐसी कितनी ही कहानियां आज भी बच्चों की लोकप्रिय पत्रिकाओं में छपती हैं। किसी चरित्र को कहानी शुरू होने से पूर्व ही धर्म या जाति के नाम में बांधने वाली रचनाओं की तुलना हम उन कहानियों से कर सकते हैं जो किसी खरगोश को 'चालाक' या किसी ऊंट को 'मूर्ख' बताकर शुरू होती हैं। ये रचनाएं भी पात्र को परिस्थितिजन्य व्यवहार की स्वतंत्रता नहीं देती, और इस प्रकार पाठक को कहानी के नाम पर ऐसी समाज रचना का नज़ारा देती है जिसमें शामिल सदस्यों के स्वभाव उनके 'स्वभाव' नहीं, पहले से तय स्थाई आरोपण होते हैं, जिन्हें कहानी के घटनाक्रम में सिद्ध भर होना होता है।

हिन्दी का ज़्यादातर बालकथा साहित्य इस प्रवृत्ति से ग्रस्त है, और उसी की मिसालें पाठ्य-पुस्तकों में भी मिलती हैं। यह समझना कठिन नहीं है कि यह प्रवृत्ति विचार-विमर्श या सामाजिक संवाद की नींव को निर्बल बनाती है। व्यक्ति की सत्ता और अपना चरित्र, अपने कर्मों से व्यक्त करने की स्वायत्तता का निषेध, हमारी सन्तान को एक ऐसे समाज में ढालता है जिसमें लोगों से यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वे अपनी बात या सोच सामने रखेंगे, बल्कि यह मानकर चला जाता है कि उनकी बात तो उनके पूर्व-निर्धारित चरित्र और नामांकन में तय कर दी है। यह मान्यता संवाद की संभावना को जन्म से पूर्व ही मार डालने के लिए पर्याप्त है।

पाठ्य-पुस्तकों में कविताएं

रूढ़ संज्ञा और कथापूर्व विशेषण देकर घटना या संवाद को पहले से तय कर देने वाली कहानियों की ही पूरक वे तमाम रचनाएं कहीं जा सकती हैं जिन्हें 'कविता' कहकर हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकों में शामिल किया जाता है। हिन्दी विषय के अंतर्गत पढ़ाई जाने वाली तथाकथित कविताएं पढ़कर बच्चे को, दी गई पंक्तियों का लक्ष्यार्थ पहचानना और लिखना होता है। जिसे मैं 'लक्ष्यार्थ' कह रहा हूं, वह प्राय: एक घिसे हुए प्रतीकार्थ जैसा दिखता अवश्य है, पर उसे प्रतीकार्थ कहना ठीक नहीं होगा। प्रतीकों में आभा का गुण होता है, यानी जिस भाव या अनुभव की क्षणिक रचना वे मन में करते हैं, उसके इर्द-गिर्द एक आभावृत की गुंजाइश रहती है।

इस आभावृत को हम एक ऐसा निर्जन क्षेत्र कह सकते हैं जिसमें हमारी कल्पना कविता की मदद से थोड़ी देर विचर लेती है और ऐसा कुछ देखने में समर्थ हो जाती है जो निर्दिष्ट नहीं था – कवि के द्वारा तो नहीं ही था, हमारे होशियार मन द्वारा भी नहीं। इसी निर्जन क्षेत्र के दरवाज़े खोलने की क्षमता के कारण ही कविता की शिक्षा को भाषा-शिक्षण की सामान्य, सीमित परिधि के परे जाने वाली शिक्षा माना जा सकता है। कविता ही भाषा-शिक्षण में यह मुक्तिदायी आयाम जोड़ सकती है। लेकिन यह संभावना उन तथाकथित कविताओं की मदद से नहीं खोली जा सकती जो हिन्दी की पाठ्यपुस्तक में अनिवार्य रूप से शामिल रहती हैं।

एक-दो उदाहरण लें। एन.सी.ई.आर.टी. की छठी कक्षा की पुस्तक में अन्तिम पाठ द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी की 'जलाते चलो' शीर्षक की कविता है। इसका कोई भी अंश हमारे लिए पर्याप्त

है, लेकिन पहला हिस्सा शायद बात को ज़्यादा अच्छी तरह से स्पष्ट करने में मदद देगा।

जलाते चलो ये दिये स्नेह भर-भर
कभी तो धरा का अंधेरा मिटेगा।
जला दीप पहला तुम्हीं ने तिमिर की
चुनौती प्रथम बार स्वीकार की थी।
तिमिर की सरित पार करने, तुम्हीं ने
बना दीप की लौ तैयार की थी।
बहाते चलो नाव तुम वह निरन्तर
कभी तो तिमिर का किनारा मिलेगा।

विश्लषण से पहले एक और उदाहरण के तौर पर एन.सी.ई.आर.टी. की आठवीं की किताब से गोपाल दास 'नीरज' की 'जीवन नहीं मरा करता है' कविता के कुछ अंश देखें।

छिप-छिप अश्रु बहाने वालो!
मोती व्यर्थ लुटानेवालो!
कुछ सपनों के मर जाने से जीवन नहीं
मरा करता है।
सपना क्या है? नयन सेज पर
सोया हुआ आंख का पानी!
और टूटना है उसका ज्यों
जागे कच्ची नींद जवानी!
गीली उमर बनाने वालो!
डूबे बिना नहाने वालो!
कुछ पानी के बह जाने से सावन नहीं
मरा करता है।
लूट लिया माली ने उपवन
लुटी न लेकिन गंध फूल की।
तूफानों तक ने छेड़ा
पर खिड़की बंद न हुई धूल की।
नफरत गले लगाने वालो!
सब पर धूल उड़ाने वालो।
कुछ मुखड़ों की नाराज़ी से दर्पण नहीं
मरा करता है।

इन दो उदाहरणों से हम हिन्दी की कक्षा में होने वाले समाजीकरण की कुछ परतें उघाड़कर देख सकते हैं। उघाड़ने से आशय इन परतों में दबी ऐतिहासिक व सांस्कृतिक इबारतें पढ़ने से है। वैसे तो कोई भी शैक्षणिक काम अपने में समाज के लम्बे अनुभव के जलचिन्ह संजोए रहता है, लेकिन भाषा के शिक्षण में छिपे जलचिन्ह अन्य विषयों के शिक्षण की तुलना में ज़्यादा संश्लिष्ट होते हैं।

भाषा का शिक्षण सिर्फ कुछ कौशलों को सीखाना और कुछ सूचनाओं का खुलासा नहीं है। इस सबके साथ वह सोच और संवाद के उन संस्कारों में बच्चे के अनगढ़ व्यक्तित्व का प्रवेश भी है जो उसके सामाजिक परिवेश को नाना दिशाओं से लटके असमरूप धागों में बांधने की सामर्थ्य रखते हैं। यदि संवाद परम्पराएं समाज की संरचना का अभिन्न अंग हैं, तो हम जिन संस्कारों की चर्चा भाषा शिक्षण के संदर्भ में कर रहे हैं, उन्हें हम इन संवाद परम्पराओं को साधने और आवश्यक़ता के अनुसार सूक्ष्म शक्ति के साथ बदलने के साधन मान सकते हैं। हिन्दी की घंटी में नियमित उपजाए

जाने वाले संस्कारों को हमें इस कसौटी पर जांचना है कि वे किन संवाद परम्पराओं को साधे और किन ऐसी संभावनाओं को थामे रखते हैं जिनकी ज़रूरत हमारे समय की लोकतांत्रिक संस्थाओं ने पैदा की है।

ऊपर दिए गए काव्यांश स्पष्टतः उस परम्परा से निकलते हैं जिसे हम प्रायः सुविधा के लिए संक्षेप में कवि - सम्मेलनों या मंचीय काव्य की परम्परा कह देते हैं। इस तरह के काव्य में लय और तुक एक प्रकार का प्रतीक्षित चमत्कार उत्पन्न करती चलती है और अर्थ से आशय उस सामूहिक मनन से होता है जिसे मंच पर बैठा या खड़ा कवि रात के अंधेरे में अपनी आवाज़ से संचालित करता है। एक मिले-जुले श्रोता समूह का यह संचालित मनन किसी गहरे स्तर पर जाने का जोखिम नहीं उठा सकता, न ही वह निजी अनुभव या कल्पना की गुंजाइश छोड़ सकता है।

इसलिए वह रूढ़ प्रतीकों के सहारे मोटी-मोटी बातों को इस तरह छिपाने का अभ्यास बन जाता है कि श्रोता-समूह उन्हें आसानी से ढूंढता चले और इस काम से एक क्षणिक उपलब्धि का सुख पाए। यह सुख ही 'वाह-वाह' की आवाज़ों में व्यक्त होता है। हम अपने दो उदाहरणों से परिचित स्थानों पर 'वाह-वाह' की आवाज़ सुन सकते हैं। यह आवाज़ बताती है कि पहली कविता में तिमिर और दीये से व दूसरी में सपने और सावन से क्या आशय है। यह हम पहले से जानते हैं। इन कविताओं को बच्चों को पढ़ाने का अर्थ ही है कि बच्चे तिमिर, दीपक, सपने और सावन के इन स्थाई मायनों के अभ्यस्त हो जाएं।

कविताओं के बाद पाठ्य-पुस्तकों में दिए गए प्रश्नों में भी यह चिन्ता केन्द्रीय महत्व पाती है कि फलानी पंक्ति से कविता का क्या आशय है और अमुक आशय किस पंक्ति में व्यक्त हुआ है। कवि सम्मेलनों की परम्परा के भीतर कवि का 'आशय' दरअसल कवि का नहीं, संपूर्ण श्रोता-समुदाय का होता है जिसे अपनी आवाज़ और तुकबन्दी से बांधकर कवि श्रोता-समूह की सामुदायिकता पुष्ट करता है। भाषा की कक्षा में बच्चे तक यही सामुदायिक आशय अध्यापक के ज़रिए पहुंचाया जाता है और आशय के सुरक्षित पहुंचने की पुष्टि प्रश्नोत्तर या गृहकार्य से कर ली जाती है। हिन्दी के गृहकार्य की कॉपी इस किस्म के उत्तरों से भरी रहती है: "इस पंक्ति में कवि कहना चाहता है कि हमारी व्यक्तिगत निराशाओं से जीवन की अबाध धारा का सौन्दर्य खंडित नहीं होता है" आदि।

बच्चे और कई बार उनके अध्यापक भी 'खिड़की बंद न हुई धूल की' जैसी

पंक्तियों का अर्थ निर्धारित करने में सफल नहीं हो पाते तो किसी कुंजी का सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी कविताओं में अर्थ आखिर स्वयं एक प्रकार का ताला ही होता है जिसे खोलने के लिए कोई निश्चित, तर्कसंगत कुंजी चाहिए। कल्पना, संवेदना, आनन्द या उल्लास जैसे भाव, जिन्हें हम कविता के साथ जोड़ने के आदी हैं, हिन्दी की कक्षा में एक पूर्व - निर्धारित समाजीकरण अभियान के अंतर्गत ही कोई रूपाकार पा सकते हैं, उनकी व्यक्तिपरक, स्वाधीन सत्ता की मंजूरी हिन्दी की पढ़ाई में निहित नहीं है। सच तो यह है कि हिन्दी शिक्षण का लक्ष्य बच्चे के स्वाधीन बोध को संवाद की एक निश्चित परिपाटी में कैद कर देना है।

रूढ़ बिम्ब और परिपाटियां

अब इस परिपाटी के तत्व पहचानना हमारे लिए कठिन नहीं होना चाहिए। एक तत्व यह है कि किसी बात का अर्थ वह नहीं है जो उसमें नज़र आता है, बल्कि कुछ और ही है। हर बिम्ब किसी एक अर्थरूप का इशारा भर है। हम इशारे को प्रतीकार्थ या ध्वनि का संकेत भी नहीं कह सकते, क्योंकि कम-से-कम कविता के संदर्भ में प्रतीक की सत्ता में रसिक पाठक की कुछ न कुछ स्वतंत्र ज़िम्मेदारी रहती है। हिन्दी के स्कूली शिक्षण में कविता के ज़रिए कराया जाने वाला अभ्यास इस बात का होता है कि बच्चा हर बात में किसी और ही बात व इरादे की गंध सूंघना सीख जाए। यह अभ्यास कहीं-न-कहीं एक ऐसे समाज में जीने की आदत से जुड़ा प्रतीत होता है जहां कोई भी व्यक्ति अपनी बात अन्यथा लिए जाने के डर से मुक्त होकर नहीं कर सकता। बड़ा होते-होते यह अहसास उसके स्वभाव का अंग बन जाना चाहिए कि हर बात का अन्यथा लिया जाना पहले से तय है। बल्कि यह कह देना कि 'आशा है मेरी बात आप अन्यथा नहीं लेंगे' इस बात का प्रमाण है कि कहने या लिखने वाला व्यक्ति अपनी बात के अन्यथा लिए जाने की नियति से भलीभांति परिचित है।

हम जिस प्रवृत्ति पर विचार कर रहे हैं, उसे लाक्षणिक या व्यंजनात्मक अर्थ के आकर्षण का नाम देना गलत होगा। किसी आम वस्तु या घटना का ऐसा उल्लेख, जिसकी विवेचना का एक कायदा हो और वह पहले से तय हो, लक्षणा या व्यंजना जागृत करने का प्रयास नहीं कहा जा सकता। ऐसे उल्लेख का उद्देश्य वस्तु या घटना का बिम्ब बनाना है ही नहीं, केवल उस नियत अर्थ की ओर इशारा करना है जिसमें पाठक की कल्पना समाजीकृत की जानी है या पहले ही हो चुकी है। जब कविता कहती है 'हम सब सुमन एक उपवन के' तो इसका जो अर्थ हर

बच्चे को लिखना ज़रूरी है, यह है कि 'हम सब बच्चे एक ही देश के नागरिक हैं।' अतिरिक्त व्याख्या के तौर पर लिखा जा सकता है कि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के फूल एक ही उपवन में खिलते हैं, उसी प्रकार विभिन्न धर्मों और जातियों के लोग एक होकर हमारे देश में रहते हैं। यदि यह अर्थ व्यंजनात्मक है तो बहुत सतही अर्थ में।

दी गई पंक्ति पढ़कर सुमन और उपवन का एक कल्पित जगत बनाने की ज़रूरत नहीं है। ये बिम्ब इतने रूढ़ हैं कि बिम्ब रह ही नहीं गए हैं। पंक्ति पढ़कर उन्हें नियत निहितार्थ में फिसल पड़ना है। पंक्ति में आए शब्दों की हैसियत गणित या ज्यामिति में प्रयुक्त संकेत अक्षरों और चिन्हों से अधिक नहीं है। ये उचित अवसरों पर कहे जाने वाले मुहावरों या ग्रीटिंग कार्ड में लिखे वाक्यांशों की तरह आनुष्ठानिक उच्चार हैं। भाषा का शिक्षण बिम्ब-निर्माण और कल्पित सृष्टि में रमने की सामर्थ्य पैदा करने की जगह आनुष्ठानिक उच्चार की ट्रेनिंग बन जाता है, यही हमारी लाखों कक्षाओं में हिन्दी की घंटी में रोज़ घटने वाली सांस्कृतिक दुर्घटना है।

हिन्दी की पढ़ाई संवेदना का अभ्यास बनने से बहुत दूर, इसकी उल्टी दिशा में, स्वीकृत अर्थों को उगलने का प्रशिक्षण बनी हुई है। चाहे वह कविता हो, कहानी हो, लेख या एकांकी हो, हर रचना हिन्दी की पाठ्य-पुस्तक के लिए चुनी ही इस आधार पर जाती है कि उसमें स्वीकृत बातें बोल देने के अवसर कक्षा में जुटाने की क्षमता कितनी है। विषयवस्तु के सभी पक्ष इसी आधार पर जांचे जाते हैं, यहां तक कि पात्रों का नामकरण भी इसी आधार पर होता है।

यह सिलसिला पहली ही कक्षा से आरम्भ हो जाता है। उदाहरण के लिए 'आओ बगीचा लगाएं' शीर्षक कहानी ने, जो पहली कक्षा के लिए एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रकाशित 'बालभारती' में शामिल है, अपने पात्रों में कमला और ज्ञान के अलावा सलमा और रहीम को इस कारण शामिल किया है, कि ये नाम मुसलमानों की उपस्थिति का संदेश देते हैं।

भाषाई रस को नष्ट करना

पहली ही कक्षा में इस प्रक्रिया का आरम्भ हो जाना महत्वपूर्ण है और स्थापित परिपाटी की दृष्टि से तर्कसंगत भी। पहली कक्षा बच्चे को साक्षर बनाती है, उनकी नवजात साक्षरता का उपयोग सीधे-सीधे ऐसे कथानकों में करना पाठ्य-पुस्तक का उद्देश्य है जो उनकी स्वतंत्र अर्थखोज को पहले से नियत अर्थों की पहचान करने की दिशा में मोड़ दें। इसे हम साक्षरता का समाजीकरण करने वाला पक्ष भी

कह सकते हैं और रसिकता की हत्या करने वाला पक्ष भी। सच तो यह है कि हिन्दी की पहली किताब बच्चे को साक्षर इस तरह बनाती है कि अर्थग्रहण की उसकी स्वाभाविक इच्छा कुंद हो जाए। पढ़ना सिखाने की पारम्परिक विधियों में अर्थग्रहण पर ज़ोर नहीं था, लेकिन पुराने समय में अर्थग्रहण की क्षमता के विकास की आदत बच्चों के मन में जगाए रखने के अन्य अनेक साधन थे। उस समय शिक्षा कुछ थोड़े से बच्चों के लिए ही थी जिनकी अभिप्रेरणा जिलाए रखने की ज़रूरत उनकी सामाजिक हैसियत और भावी भूमिकाओं के ध्यान से पूरी हो जाती थी।

आज की परिस्थिति में जब हर बच्चे से अपेक्षा की जाती है कि वह साक्षर बने, पहली कक्षा के शिक्षक और पाठ्य-पुस्तक पर एक भारी ज़िम्मेदारी आ जाती है। यदि यह ऐसी विधियों से पढ़ना सिखाए जो अक्षरज्ञान देने की प्रक्रिया में अर्थ की तलाश को हतोत्साहित करती हो तो इसे साक्षरता का रचनात्मक प्रसार नहीं माना जा सकता।

ऐसा नहीं है कि पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में छोटे बच्चों को हिन्दी पढ़ना सिखाने की पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। 'थप रतन घर थप' जैसे नितान्त अर्थहीन पाठ, जिन पर मैंने सत्तर के दशक में अपनी पुस्तक *'राज, समाज और शिक्षा'* में टिप्पणी की थी, आज भी अनेक प्रवेशिकाओं में मिल जाएंगे पर राष्ट्रीय परिषद् की प्रवेशिका में आज उनकी जगह ऐसे पाठ हैं जिनमें अर्थ की तलाश को एकदम नज़रअंदाज़ नहीं किया गया है। इस प्रवेशिका में आरम्भिक शब्द अपेक्षाकृत सावधानी से चुने गए हैं और वर्णमाला सिखाने के पूर्व आकृति निर्माण और चित्र-चर्चा के अभ्यास भी हैं। लेकिन मनोभाषाविज्ञान ने पढ़ने की प्रक्रिया पर जितना प्रकाश इस बीच डाला है, उसका पर्याप्त इस्तेमाल इस प्रवेशिका में भी नहीं मिलता। शुरू में शब्दों की मदद से वर्णज्ञान पर बल दिया गया है, बाद के पाठों में स्थूल कथानकों की मदद से बच्चे की साक्षरता को उसी दिशा में मोड़ा गया है जिसका विवेचन ऊपर हो चुका है। दोनों तरह के पाठों का एक-एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

(1)

घर कर कब कम
मन नल बस रस
कलम नमक कमल

. . . .

माताजी, मीरा को दाल चावल दो
लो मीरा, दाल चावल लो।
साग लो, चटनी लो।
मदन रोटी लो, रायता लो।
चबा चबाकर खाना खाओ।

(2)

इतवार का दिन था। सुबह के आठ बजे थे। सलमा और रहीम खेल रहे थे। कमला और मदन भी उनके घर खेलने आए थे। सलमा और कमला की एक सहेली थी।

इस पूरी प्रवेशिका में एक भी अंश ऐसा नहीं है जिसके बारे में कहा जा सके कि वह बच्चों में पढ़ने के प्रति रुचि जगाने की खातिर सिर्फ इस आधार पर चुना या रखा गया है कि उसे पढ़कर बच्चे खुश होंगे। हर पाठ, वाक्यांश के पीछे एक योजना है, रणनीति है। यह रणनीति बच्चे की पुस्तक की सरकारी 'नीति' के तहत चुनी गई है।

भाषा शिक्षण में राजनीति

एक भाषा के रूप में हिन्दी लम्बे समय से एक रणनीति का मोहरा रही है। इस रणनीति के एक महत्वपूर्ण पहलू की बानगी हम उसी एकांकी में पा सकते हैं जिससे यह चर्चा आरम्भ हुई थी। 'विजय पर्व' इस एकांकी को हिन्दी की पढ़ाई के विश्लेषण की दृष्टि से हमने दो कारणों से महत्वपूर्ण माना था। पहला कारण अनाम ग्रामीणों की 'हिन्दू' और 'मुसलमान' के रूप में कराई गई पहचान था जिसकी विवेचना करते हुए हमने पाया कि यह पहचान एक व्यापक प्रवृत्ति का अंग है। ये पात्र और इनकी पहचान सुनियोजित है। उनकी उपस्थिति और पहचान के पीछे छिपी योजना को जान लेना ही हिन्दी का सफल छात्र होने का सार है। हिन्दी की शैक्षिक दुनिया में समाजीकृत होने का अर्थ ही है संवाद और अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता को खोकर एक गहन रणनीति में ढल जाना।

इसी रणनीति का एक अन्य पहलू 'विजय पर्व' एकांकी में तैमूरलंग के मुंह में डाली गई शब्दावली से पहचाना जा सकता है। तैमूरलंग को जिस शब्दावली का प्रयोग करता दिखाया जाता है, उसमें उर्दू शब्दों का बाहुल्य है। उसके साथी भी ऐसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं। वीर बालक बलकरन तैमूरलंग को बताता है कि आज उसकी वर्षगांठ है तो तैमूर इस बात को समझ नहीं पाता:

बलकरन : यह दूध, यह दूध मेरी वर्षगांठ के लिए है।

तैमूर: साफ जुबान में बात कर जो समझ में आए...

आठवीं कक्षा के हर हिन्दी अध्यापक को पता है कि तैमूर बलकरन की बात क्यों नहीं समझ पा रहा है और 'साफ जुबान' से तैमूर का क्या आशय है। इसी प्रकार थोड़ा आगे चलकर जब अपनी मांग पूरी की जाने पर बलकरन तैमूर को 'धन्यवाद' देता है, तब भी तैमूर यही कहता है– "मैं कुछ समझा नहीं, खैर...।"

उर्दू एक 'विदेशी' भाषा है, इसलिए एक ऐसे विदेशी के मुंह में भी डाली जा सकती है जो उर्दू के जन्म से पहले भारत आया था; उर्दू मुसलमानों की भाषा है, इसलिए एक मंगोल मुसलमान के मुंह में भी डाली जा सकती है – ये दो बातें सिखाना 'विजय पर्व' एकांकी की पढ़ाई में अप्रत्यक्ष रूप से शामिल है।

हिन्दी की आम कक्षा में जब किसी पाठ के शब्दों की छंटाई होती है तो उर्दू शब्दों की पहचान 'विदेशी' शब्दों के रूप में होती है। शब्दों का जो वर्गीकरण हिन्दी का हर अध्यापक अपने प्रशिक्षण के दौरान सीखता है, उसमें चार वर्ग हैं – तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी। उर्दू भले उत्तर भारत में जन्मी हो, हिन्दी अध्यापन की विधि पर लिखे गए विद्वतापूर्ण ग्रंथ उसके शब्दों को 'देशज' की श्रेणी में नहीं रखते। हिन्दी के पीरियड में उर्दू के शब्दों की न केवल विधिवत् छंटाई की जाती है, यह हिदायत भी लगातार दी जाती है कि बच्चों को अपने गृहकार्य में उर्दू शब्दों का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए। 'सरल' की जगह 'आसान' या 'कठिन' की जगह 'मुश्किल' का प्रयोग करने वाले बच्चों के नम्बर ऐसे शब्दों पर बाकायदा गोल निशान लगाकर काटे जाते हैं। उर्दू शब्दों के प्रति हिन्दी शिक्षक का रवैया किसी संयोग या कमज़ोरी का नतीजा नहीं है जिसे 'दुर्भाग्यवश ऐसा है' कहकर टाला जा सके। आधुनिक हिन्दी की विकास-यात्रा में उर्दू से परहेज और विद्वेष का अपना एक पूरा इतिहास है जिसे यहां दुहराना संभव नहीं है, न ज़रूरी है। हिन्दी का आज का शिक्षक उस इतिहास में पैठी राजनीति का मोहरा है।

उसी राजनीति की एक और विरासत हिन्दी की बोलियों का शिक्षा की हिन्दी से बहिष्कार है। ऐसी रचनाएं जिनमें हिन्दी की बोलियों के शब्द आए हों, पाठ्य-पुस्तकों के लिए नहीं चुनी जातीं; न ही बोलियों में उपलब्ध शब्द-भंडार का उपयोग स्कूल के विविध विषय पढ़ाने की माध्यम भाषा के रूप में हिन्दी की संवृद्धि के लिए किया गया है। बोलियों का बहिष्कार अपने-आप में एक पूरा अलग आख्यान है। इस बहिष्कार की जो सामाजिक और शैक्षिक कीमत हिन्दी समाज ने चुकाई है, वह उर्दू के प्रति दुश्मनी की कीमत से कम नहीं है।

इस विषय की चर्चा, शुरू होते ही गहरे संशय से घिर जाती है। आक्षेप लगाया जाता है कि यह चर्चा हिन्दी के ऐतिहासिक संघर्ष को गुमराह करने का प्रयास है। ऐसे आरोप हिन्दी की शैक्षणिक समस्याओं को व्यक्त तक नहीं होने देते। यह प्रश्न अनसुना रह

जाता है कि हिन्दी क्षेत्र के असंख्य ग्रामीण बच्चों को पढ़ाई जा रही स्कूली हिन्दी उनकी राजकीय मातृभाषा होते हुए भी उनकी मनोभाषा क्यों नहीं बन पाती। इस प्रश्न पर गौर किए बिना हिन्दी के पीरियड में पढ़ाई जाने वाली हिन्दी में सुधार या परिवर्तन नहीं लाया जा सकता।

हिन्दी को लेकर पिछली आधी सदी से चल रही वृहत्तर बहस हिन्दी की स्कूली पढ़ाई को क्यों नज़रअंदाज़ करती है, यह भी हमारी चिन्ता का विषय होना चाहिए। यह बहस मुख्यतः इस सवाल को लेकर घूमती रही है कि हिन्दी अभी तक राजभाषा, राष्ट्रभाषा और विश्वभाषा क्यों नहीं बन सकी। किसी स्कूल में हिन्दी के पीरियड में बच्चों के बीच बैठकर इस प्रश्न की याद करके यकायक समझ में आता है कि प्रश्न की तह में हिन्दी का प्रतीक रूप है, व्यावहारिक रूप नहीं। स्कूल में पढ़ाई जाने वाली हिन्दी भी दरअसल एक प्रतीक भाषा ही है। उसे पढ़ाकर शिक्षक और उसे पढ़कर बच्चे राष्ट्रनिर्माण करने का सुख पाते हैं, लेकिन एक भाषा पर अधिकार का आनन्द नहीं।

बच्चे की दैनिक क्रियाओं में पैठने, विचारों, सहज भावों, विनोद और हास्य का संवाहक बनने, और बच्चे की बेलौस रचनाशीलता का आयोजन करने के लिए ज़रूरी लोच पर प्रतिबंध स्वयं हिन्दी की पाठ्यपुस्तक और शिक्षक के सम्मिलित प्रयास की बदौलत लग जाता है। बच्चा समझ जाता है कि ये चीज़ें स्कूल में पढ़ाई गई हिन्दी को अपवित्र बना देंगी, उसे राष्ट्रमंदिर में किए जाने वाले आनुष्ठानिक उच्चार के अयोग्य ठहरा देंगी।

कृष्णकुमार: केन्द्रीय शिक्षा संस्थान (दिल्ली विश्वविद्यालय) में प्राध्यापक। शिक्षा के मुद्दों पर सतत चिंतन एवं लेखन। बहुत-सी किताबें भी लिखी हैं। राज, समाज और शिक्षा; बच्चे की भाषा और अध्यापक आदि चर्चित कृतियां हैं। बच्चों के लिए भी कुछ किताबें लिखी हैं।

सवालीराम से पूछा है सवाल

सवाल - *आम के पेड़ों पर किसी साल बहुत ज़्यादा बौर आते हैं और किसी साल बहुत कम, ऐसा क्यों होता है?*

पुष्पलता राय, जुन्हैटा, बनखेड़ी, ज़िला-होशगाबाद, म प्र

इस संबंध में आपके पास जो भी जानकारी हो, एकलव्य, के पते पर भेजिए।